श्रीमद्भवगवतगीता के दार्शनिक आधार

धर्मिणी बेन जोशी

1. श्रीमद्भगवत[1] गीता – पृष्ठभूमि

गीता का प्रमुख उद्देश्य क्या है इस सम्बन्ध में विद्वान् एकमत नहीं हैं। यह अनैक्य आज ही नहीं; बल्कि प्राचीन काल से चला आ रहा है। गीता पर अब तक अनेक भाष्य और टीकायें लिखी गयी हैं। इस प्रकार के प्रमुख भाष्यकारों में शंकर, मध्व, रामानुज, निम्बार्क, वल्लभ और चैतन्य का नाम उल्लेखनीय है। इन धर्माचार्यों एवं दर्शनाचार्यों ने ज्ञान, कर्म और भक्ति आदि अनेक दृष्टियों से गीता का विवेचन किया है और किसी ने उसको ज्ञान–प्रधान, किसी ने कर्मप्रधान और किसी ने भक्तिप्रधान पुस्तक कहा है।

'भगवतगीता' नाम से हमें विदित होता है कि वह भगवान का गाया हुआ उपनिषद् है। उसमें भगवान श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को दिया गया उपदेश सुरक्षित है। भागवतधर्म और गीताधर्म दोनों भगवान द्वारा प्रतिपादित होने के कारण एक ही वस्तु हैं। अतः भागवतधर्म, गीताधर्म अत्यन्त महनीय और प्राचीन है। गीता के चौथे अध्याय में स्पष्ट किया गया है कि यह उपदेश भगवान ने सर्वप्रथम विवस्वान को दिया था। विवस्वान ने मनु को और उसका मर्म मनु ने इक्ष्वाकु को समझाया था। 'महाभारत के शांतिपर्व से हमें ज्ञात होता है कि यह गीता–धर्म विवस्वान, मनु, इक्ष्वाकु आदि परम्परा से प्रवर्तित होकर त्रेता युग में ब्रह्मदेव द्वारा लोक–विश्रुत हुआ।' गीता का उपदेश किसी एक विचारक या विचारकों के किसी एक वर्ग द्वारा निकाली गई अधिविद्यक प्रणाली के रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया। यह उपदेश एक ऐसी परम्परा के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जो मानव–जाति के धार्मिक जीवन में से प्रकट हुई है।

महाभारत के अश्वमेघ पर्व में गीता के उपदेश का मूलमंत्र बताया गया है। अर्जुन को श्रीकृष्ण ने गीता उपदेश ब्रह्मबोध के लिए दिया था। सारी गीता का यही निष्कर्ष है। महाभारत में कहा गया है कि महाभारतरूपी अमृत का मंथन करके उस सारभूत 'गीतामृत' को भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन के मुख में होम (उपदेश) किया।

भारतामृतसर्वस्वगीताया र्माथतस्य च।
सारमुद्धृत्य कृष्णेन अर्जुनस्य मुखे हुतम्।।

कतिपय लोगों की धारणा है कि मूल गीता का मंतव्य महाभारत से भी प्राचीन है और श्रीकृष्ण ने केवल उसका उपयोग अपने संवाद में किया था। कुछ भी हो, मूल गीता गौतम बुद्ध के पूर्व की है। डा. रिचर्ड गावें गीता की ई''वरवादी बताते हैं तो होल्ट्रजमन सवें''वरवादी। फुटो ने नि''चत किया है कि मूलगीता के मंतव्यों में चार सिद्धान्त उल्लेखनीय है : (1) आत्मा की अमरता, (2) वि''वरूप द''र्शन, (3) नियतिवाद, (4) मनुष्य का ई''वर के कार्यों का निमित बनना।

इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर श्रीकृ‘ण ने अर्जुन को कहा था कि तुम्हारा कल्याण युद्ध करने में ही है। गीता की प्राचीन वाक्य रचना और आन्तरिक निर्दे”ाों से हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि यह नि”चत रूप से ईस्वी पूर्व काल की रचना है। इसका काल ईस्वी पूर्व पांचवी शताब्दी कहा जा सकता है हांलाकि बाद में भी इसके मूल पाठ में अनेक हेर फेर हुए हैं। हमें गीता के रचियता का नाम मालूम नहीं है। भारत के प्रारम्भिक साहित्य की लगभग सभी पुस्तकों के लेखकों का नाम अज्ञात है। गीता की रचना का श्रेय व्यास को दिया जाता है, जो महाभारत का पौराणिक संकलनकर्ता है। यह कहा जाता है कि उपदे”ा देते समय कृ‘ण के लिए युद्ध क्षेत्र में अर्जुन के समक्ष 700 श्लोकों को पढ़ना सम्भव न हुआ होगा। उनसे कुछ थोड़ी सी महत्वपूर्ण बातें कही होगी, जिन्हें बाद के लेखक ने एक वि”ाल रचना के रूप में विस्तार से लिख दिया। कीथ का वि”वास है कि मूलतः गीता श्वेता”वर के ढंग की उपनिषद् थी, परन्तु बाद में उसे कृ‘णपूजा के अनुकूल ढाल दिया।

गीता का द”र्ान कोई दा”र्ानिक सम्प्रदाय नहीं है, जैसे सांख्य या वै”ोषिक या वेदान्त है। गीता को वेदान्त का एक प्रस्थान या स्त्रोत माना जाता है। इससे इसका द”र्ान वेदान्त द”र्ान के अन्तर्गत आता है। आधुनिक युग में विद्वानों ने नि”चत किया है कि गीता एक उपनिषद् है, कम से कम मूलगीता एक उपनिषद् थी। गीता के प्रत्येक अध्याय की पुष्पिका में लिखा है कि यह भगवान द्वारा गाया हुआ उपनिषद् है, ब्रह्म विद्या है और योग”ास्त्र है। उपनिषदों को वेदान्त कहा जाता है। ब्रह्म विद्या को ही वेदान्त द”र्ान कहते हैं। यह उपनिषद् वेदान्त और ब्रह्म विद्या है। फिर यह केवल वेदान्त नहीं प्रत्यक्ष योगा”ास्त्र भी है। यहाँ श्रीकृ‘ण योगे”वर है, वे योग की ि”ाक्षा देते हैं और योगी को आद”र्ा मानते हैं। गीता का योगा”ास्त्र पतंजलि का योग द”र्ान नहीं है। यहां योग का अर्थ वह उपाय या मार्ग है जिससे ई”वर प्राप्ति से संयोग होता है। किन्तु कभी कभी गीता में योग का अर्थ केवल कर्मयोग लिया जाता है वि”ोषतः जब इसे सांख्य से पृथक् किया जाता है।

लोकमान्य तिलक के अनुसार कर्मयोग ही गीता की मुख्य ि”ाक्षा है। कर्मयोग का अर्थ अपने स्वकर्म का निष्काम से पालन करना है। ऐसा करने से भगवान मिलते हैं। इस भांति गीता की पुष्पिका के अनुसार गीता द”र्ान वेदान्त और कर्मयोग है। किन्तु गीता द”र्ान वास्तव में इतना ही नहीं है। वह अपने समय की समस्त दा”र्ानिक प्रवृतियों का समन्वय देता है। गीता सर्व”ाखीय उपनिषद् है। वेदों की प्रत्येक शाखा को यह मान्य है। गीता ध्यान में कहा गया है कि सभी उपनिषद् गाय है, श्रीकृ‘ण गाय दुहाने वाले दोग्धा है, अर्जुन बछड़ा है और गीतारूपी अमृत दूध है।

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीभोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।।

गीता ने ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग का समन्वय करके कर्म, भक्ति और ज्ञान के समुच्चय का प्रतिपादन किया है।

2. ज्ञान–निष्ठा तथा योग–निष्ठा

गीता' असंख्य श्लोकों का सागर है। उसके एक एक रत्न को उसका एक एक उपदे"ा कहा जा सकता है और उन सभी उपदे"ाों में व्यापक मानवता का हित बताया गया है। इन सभी उपदे"ाों के संगम से एक महान् एवं व्यापक उपदे"ा की निष्पति हुई है। वह उपदे"ा है – अनादिकाल से अज्ञान में पड़े हुए जीव को परमे"वर की प्राप्ति करना। इस परमे"वर प्राप्ति के लिए अनेक द"ार्नों में अनेक साधन बताये गये हैं। गीता के अनुसार उसके दो साधन है। ज्ञान निष्ठा और योग निष्ठा। ज्ञान निष्ठा का दूसरा नाम सांख्य निष्ठा या कर्म सन्यास भी है। अपने समस्त कार्यों, इच्छाओं और अपने आपको, अभिमानरहित होकर, उसे परमे"वर में मिला देना ही ज्ञान निष्ठा है ; अर्थात् उस ज्ञानमय से एकनिष्ठ हो जाना ही गीता का उद्दे"य है। ज्ञान निष्ठा के सिद्धान्त में बताया गया है कि यह जो दृ"यमान चराचर जगत है वह सब कुछ ब्रह्म ही है ; उसके अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। अतः हम और हमारे द्वारा जो कुछ कर्म होते हैं वे सभी ब्रह्ममय हैं। यह जो कुछ भी दिखाई दे रहा है, वह मायामय है, क्षणिक है, नाशवान है। उसमें मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों को लगाना व्यर्थ है। 'योग–निष्ठा के ऊपर नाम हैं समत्तपयोग, बुद्धियोग या सात्विक त्याग। यह जो दृश्यमान है उसके प्रति अनासक्ति, अनिच्छा, कर्मों के प्रति स्वाभाविक प्रवृत्ति और मन, वचन, कर्म से उसी प्रभु के अधीन हो जाना ही योगनिष्ठा है। यह योगनिष्ठा ही कर्मयोग है।'

3. गीता में सार्वभौम जीवन–दर्शन

गीता एक सार्वभौम जीवन दर्शन की पुस्तक है। गीता में विभिन्न विशेषताएँ हैं जो व्यापक विचार–जगत के लिए समन्वय रूप से ग्राह्य हैं। वे विशेषताएँ हैं – सत्य, अहिंसा, त्याग, निरपेक्षता, समत्व, कर्म, ज्ञान और उपासना की। वस्तु : ये विशेषताएं गीता की वेदों और उपनिषदों से मिली हैं; किन्तु उनको जिस व्यापक रूप में प्रस्तुत किया गया है यह गीता की अपनी विशिष्टता है समस्त मानवता की दृष्टि में रखकर उसी के बीच का एक अंश लेकर उसकी विभिन्न स्थितियों की ऐसी व्याख्या करना कि जिसमें व्यक्ति–व्यक्ति की संवेदना मिली हो; समष्टि का हृदय मिला हो।[2]

शान्ति का संदेश

'गीता' एक महान संग्राम का कारण होती हुई भी मानवता के लिए यह संदेश देती है कि जीवन का वास्तविक उद्देश्य मार–काट एवं युद्ध–लिप्सा न होकर उस सद्गति को प्राप्त करना है, जहाँ अपने–पराये का भेद मिट जाता है।

कर्त्तव्य का निर्देश

'गीता' किसी एक वर्ग, सम्प्रदाय, देश या व्यक्ति के लिए न होकर सब के लिए समान रूप से ग्राह्य है। उसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति, उन्नति–लाभ के दोनों मार्ग हैं। गीता की कर्म–दृष्टि व्यक्ति–व्यक्ति को उसको नियत कर्त्तव्यों के लिए प्रेरित करती है और साथ ही यह भी निर्धारित करती है कि एक का दूसरे के प्रति क्या कर्त्तव्य है। स्वार्थ की छाया में किये गये कार्य कर्त्तव्य गीता को स्वीकार नहीं हैं। निष्काम कर्म ही उसकी दृष्टि से श्रेष्ठ है। गीता की एक व्यापक एवं उदार भावना यह भी है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने–अपने विचार से अपने–अपने श्रेय की स्वयं चिन्ता करे।

प्रेम, भक्ति, भावना, दया और शरणागति आदि ऐसे ही प्रवृत्तिपरक साधन हैं, जिनमें से किसी को भी चुनकर मनुष्य अपने कल्याण का स्वयं निर्माण कर सकता है।

वेदान्त[3] और भक्ति का समन्वय

उपनिषदों के अद्वैत वेदान्त के साथ भक्ति का सामंजस्य स्थापित करके बड़े–बड़े कर्मवीरों के चरित्र और उनके जीवन की क्रमिक उत्पत्ति बताना ही गीता का प्रमुख उद्देश्य है। गीता का धर्म ऐसा धर्म है, जिसमें बुद्धि अर्थात् ज्ञान और प्रेम अर्थात् भक्ति दोनों का सामंजस्य करके लोकानुग्राही मोक्ष का प्रतिपादन बड़ी सरलता से वर्णित है।

गीता और दर्शन का समन्वय

गीता और दर्शनों की विचारधारा का तुलनात्मक विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि उनकी कई बातों में अत्यन्त समानता है। इस दृष्टि से यदि देखा जाए तो न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त के अनेक सिद्धान्त 'गीता' के सिद्धान्तों में मिलते हैं।

गीता का पुरूषोत्तम

गीता का पुरूषोत्तम तत्व वेद, वेदान्त और दर्शन के परम तत्व से पृथक् है। क्षर, अक्षर और पुरूषोत्तम गीता के तीन तत्व हैं। सांख्य और वेदान्त की अपेक्षा गीता के प्रकृति–पुरूष में भिन्नता है। यद्यपि गीता के अनुसार भी प्रकृति पुरूष के संयोग से जगत की उत्पत्ति हुई है किन्तु वे दोनों दो नहीं एक हैं। गीता के अनुसार प्रकृति और पुरूष परम तत्व नहीं हैं, वरन् वे मूल तत्व के प्रकाशक मात्र हैं। गीता में इस जगत को भगवान की प्रकृति कहा गया है और इसलिए जगत, भगवान का विवर्त्त तथा परिणाम न होकर उसमें भगवान ही व्याप्त है। यह जगत भगवान का नित्य लीला–क्षेत्र है। जगत का नित्य अस्तित्व है, क्योंकि वह लीलामय भगवान की अभिव्यक्ति है।

श्रीकृष्ण[4] ही पुरूषोत्तम हैं

जगत की अपेक्षा भगवान अधिक व्यापक हैं। जगत उसका एक अंश मात्र है। वह अनन्त, अखण्ड, असीम और अजेय है। गीता के सातवें, आठवें, दसवें और ग्यारहवें अध्यायों में अक्षर ब्रह्म पुरूषोत्तम की शक्तियों, स्वरूपों और लीलाओं का विशद् चित्रण किया गया है। ये पुरूषोत्तम स्वयं श्रीकृष्ण ही हैं, क्योंकि गीता में उन्होंने स्थान–स्थान पर उत्तम पुरूष के रूप में अपनी ही विभूतियों को अभिव्यक्त किया है। गीता में वैयक्तिक परमात्मा के रूप में भगवान पर बल दिया गया है, जो अपनी प्रकृति से इस अनुभवगम्य संसार का सृजन करता है। वह प्रत्येक प्राणी के हृदय में निवास करता है, वह सब बलियों का आनन्द लेने वाला और स्वामी है। वह हमारे हृदय में भक्ति जगाता है और हमारी प्रार्थनाओं को पूर्ण करता है। वह सब मान्यताओं का मूल स्त्रोत और उन्हें बनाये रखने वाला है। गीता का उपदेश देने वाला कृष्ण को विष्णु के साथ, जो कि सूर्य का प्राचीन देवता है, और नारायण के साथ, जो ब्रह्माण्डीय स्वरूप वाला प्राचीन देवता है और देवताओं और मनुष्यों का लक्ष्य या विश्रामस्थान है, एकरूप कर दिया है।

गुरू कृष्ण

जहाँ तक भगवद् गीता की शिक्षा का प्रश्न है इस बात का कोई महत्त्व नहीं है कि उसका उपदेश देने वाला कृष्ण कोई ऐतिहासिक व्यक्ति है या नहीं। महत्त्वपूर्ण बात भगवान का सनातन अवतार है, जो विश्व में और मनुष्य की आत्मा में पूर्ण और दिव्य जीवन को लाने की शाश्वत प्रक्रिया है। परन्तु कृष्ण की ऐतिहासिकता के पक्ष में काफी प्रमाण विद्यमान हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में देवकी–पुत्र कृष्ण का उल्लेख है और उसे घोर आंगिरस का शिष्य बताया गया है। कृष्ण का महाभारत की कथा में भी बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है, जहाँ उन्हें अर्जुन के मित्र के रूप में प्रस्तुत किया गया है। पाणिनि ने वासुदेव और अर्जुन को पूजा का पात्र बताया है। गीता के अनुसार ईश्वर–दर्शन के लिए कर्म, ज्ञान या भक्ति की साधना करनी पड़ती है। तीनों साधनाएँ ईश्वर–दर्शन के उपाय या साधन हैं। तीनों को करने वाले भगवान के भक्त हैं। भगवान भक्त के सामने अपने को प्रकट करता है। इसे संतों ने भगवान का अवतार कहा है। भगवान भक्तों के सामने अवतार लेता है। उसे भक्ति के द्वारा देखा जा सकता है। गीता के प्रमाणों से स्पष्ट है कि ईश्वर है। वह ईश्वरवाद का एक अद्वितीय ग्रन्थ है।

ईश्वर का स्वरूप

गीता के पुरूषोत्तम श्रीकृष्ण–निर्गुण, सगुण, निराकार, साकार सभी कुछ हैं। प्रकृतिजन्य गुणों का अभाव होने पर वे निर्गुण हैं और लीलामय होने के कारण सगुण हैं। शंकराचार्य के मत में ईश्वर निर्गुण है और रामानुज के मत में सगुण। सगुण निर्गुण का द्वन्द्व सर्वेश्वरवाद और ईश्वरवाद का द्वन्द्व है।[5]

क्षरलीलामय स्वरूप

यह विश्वलीला भगवान की परमा प्रकृति है। अपने आनन्द के लिए उन्होंने प्रकृति के द्वारा अपने को नाना रूपों में प्रकट किया है। यदि भगवान की इस विश्वलीला को देखा जाए तो ज्ञात होता है कि वे अनेक हैं, सुखी–दुखी हैं, जन्म मृत्य के वश में हैं और ससीम हैं। यह भी भगवान की एक अवस्था है, जिसको भगवान का क्षर रूप कहा गया है और जिसे वे अपने भक्तों के लिए धारण करते हैं। परन्तु एक रूप उनका इससे भी बढ़कर है, जिसे अक्षर कहते हैं। इस अवस्था में भगवान, द्रष्टा, उदासीन, विमुक्त और स्वाधीन होते हैं। यह समस्त संसार लीला उस समय बन्द हो जाती हैं। यह उनका निर्गुण रूप है। इन दोनों रूपों के अतिरिक्त भगवान का तीसरा रूप भी है – पुरूषोत्तम। यह अवस्था भगवान की निर्गुण और सगुण, दोनों से संयुक्त हैं। क्षर के रूप में भगवान विश्वलीला में एकाकार हैं, अक्षर रूप में वे अपना ही लीलारूप देख रहे हैं और पुरूषोत्तम रूप में वे अपनी प्रकृति को परिचलित करके इस विश्वलीला को सार्थक, संमोहक भी बना रहे हैं। अपने इन तीनों स्वरूपों को भगवान ने गीता में स्वयं ही समझाया है। उन्होंने कहा है कि लोक तथा वेद में मैं पुरूषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोलमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरूषोत्तमः।।

इस भाँति गीता ने ईश्वर को सगुण और निर्गुण दोनों रूपों को माना है। उसने यह भी दिखाया है कि ऐसा मानने में कोई विरोध नहीं है। पुरूष और प्रकृति ये ईश्वर से उसकी योगमाया के द्वारा सम्बन्धित हैं। ईश्वर का इनसे जो सम्बन्ध है वह केवल योग या संयोग नहीं है। वह योगमाया है। उस योग में कुछ कौशल है। यह योगमाया क्या है ? इसके उत्तर में विभिन्न भाष्यकारों ने अपने–अपने मत दिये हैं। कोई इसे माया कहता है तो कोई लीला और कोई

शक्ति। हमारा मत है कि यह भगवान का कर्म कौशल है। इसी कौशल से वह अपने को जगत में व्यक्त करता हुआ भी अव्यक्त है। सगुण होते हुए भी निर्गुण है। यह कर्म–कौशल उसका स्वभाव है। ईश्वर द्रष्टा या अध्यक्ष है और उसकी अध्यक्षता में प्रकृति सारा काम करती है।

कर्मयोग

लोकमान्य तिलक ने गीता को कर्मयोग–प्रधान ग्रन्थ माना है।

विवेक से परमतत्व की उपलब्धि होती है, इस बात का वेद, उपनिषद्, छहों, दर्शनों ने स्वीकार किया है। गीता में लिखा है कि इस विवेक की उपलब्धि चित्तशुद्धि के बिना संभव नहीं है और चित्तशुद्धि के लिए अनुष्ठान की आवश्यकता है। अतः परमतत्व की प्राप्ति के लिए सबसे बड़ा साधन कर्मानुष्ठान ही सिद्ध होता है।

गीता के अनुसार कर्मयोगी को पाप–पुण्य नहीं लगते। कृष्ण ने स्वयं ही अर्जुन से कहा है। सुख–दुःख, लाभ–हानि और जय–पराजय को समान समझकर फिर युद्ध में प्रवृत्त होने से तुम पाप के भागी न बनोगे। निष्ठावान कर्मयोगी के लिए श्रीकृष्ण ने जो परमोच्च स्थान निर्धारित किया है उसको जानकर सहज में ही 'गीता' के कर्मरत मार्ग की फल–प्राप्ति का रहस्य समझ में आ जाता है। श्रीकृष्ण ने कहा है सब कर्मों का फल मुझमें सन्यस्त करके अनन्य योग से मेरा ही ध्यान करते हुए जो मेरी उपासना करते हैं, हे पार्थ, मुझमें आश्रित अपने उन भक्तों को मैं शीघ्र ही इस मरणशील संसार से पार कर देता है। यह गीता के कर्मयोग की विधि है और यही उसका फल है। यही कर्मयोग गीता का मुख्य विषय है, जिसको श्रीकृष्ण ने कहा है :

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।

वास्तव में ईश्वर सब कुछ करते हुए भी किसी कर्म या वस्तु में आसक्त नहीं होता है। वह तो कर्त्तव्य को करना है, बस इसलिए करता है। इस तरह अनासक्त होकर जो कर्म किया जाता है वही कर्म करने का सच्चा ढंग हैं। यही निष्काम कर्मयोग है। इस तरह गीता ने बताया है कि कर्म और अकर्म एक ही हैं। निष्कामता से सभी कर्मों को यन्त्रवत् करना और उनसे निर्लिप्त रहना ही कर्मयोग है। यही ज्ञानयोग है। इसीलिए भगवान कृष्ण ने कहा है कि ज्ञानयोग और कर्मयोग एक ही है ऐसा तो समझता है वही पण्डित है। इसी का उपदेश उन्होंने अर्जुन को दिया।

भक्ति, ज्ञान और कर्म

इस कर्म के महत्व को बताने के लिए गीता में बड़ी ही सूक्ष्म दृष्टि से काम लिया गया है। गीता ब्रह्मविद्या है, क्योंकि वह सब उपनिषदों का सार है। जिस साधन के द्वारा उस ब्रह्म–तत्व का साक्षात्कार किया जा सकता है उस योग का भी गीता में प्रतिपादन है।[6] इसी हेतु गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में 'योगशास्त्र' से अभिहित किया गया है। गीता का यह योग तीन तरह से कहा गया है – भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग। योग के ये तीनों अंग ब्रह्म–तत्व के साक्षात्कार के लिए अभिन्न अंग हैं। इनका पारस्परिक घनिष्ठ संबंध है।

प्रिय वस्तु का परित्याग

गीता का कर्मयोग बताता है कि जब तक मनुष्य में जीवन है तब तक उसको संकल्प का परित्याग करके कर्म करना चाहिए।

उसके अतिरिक्त भगवत्साक्षात्कार के लिए कोई उत्तम साधन दूसरा नहीं है। गीता का यह कर्मयोग जितना उपयोगी है, उतना ही कठिन भी है, क्योंकि उसमें बताया गया है कि प्रत्येक कर्मयोगी को सर्वप्रथम अपने प्रियजनों का संहार करना पड़ता है।

कर्म से मोक्ष–प्राप्ति

गीता के अनुसार कर्म–मार्ग पर प्रवृत्त होने वाले व्यक्ति के मन से अपने–पराये की भावना मूल रूप से नष्ट हो जाती है। गीता के कर्मयोगी के लिए इस प्रकार के अवरोध तो महान् लक्ष्य की प्राप्ति में संभव ही हैं। यह महान् तथा अन्तिम लक्ष्य है मोक्ष का। गीता में मोक्ष दो प्रकार से बताया गया है – 1) ज्ञान या कर्म सन्यास से और 2) निष्काम कर्म से। इन दोनों में दूसरा तरीका श्रेष्ठ बताया गया है। गीता का कथन है कि काम्य कर्म का अनुष्ठान करने से मोक्ष की उपलब्धि नहीं होती। वह तो ऐसे निष्काम कहने से प्राप्त होती है, जिसमें अपने व्यक्तिगत लाभ या कल्याण का कोई स्वार्थ निहित न हो। इस निष्काम कर्म को गीता में यह कहा गया है –

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचरः।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमोप्नोति पुरूषः।।

गीता का यह कर्म हमें नहीं बताता है कि उपदेष्टा उससे मुक्त रहे, वरन् वह भी इस कर्मश्रृंखला से आबद्ध है।

गीता के कर्मयोग की श्रेष्ठता

गीता के उक्त कथन से कर्मयोग की महानता का सहज ही आभास हो जाता है। गीता का यह कर्माचरण अपने लिए तो मोक्षदायक है ही, दूसरे के लिए भी कल्याणकारी है। इससे लोक–कल्याण और लोक–संग्रह भी होता है।

गीता का यह कर्मयोग मनुष्य मात्र के लिए एक जैसा है। वस्तुतः यदि व्यावहारिक दृष्टि से देखा जाए तो ज्ञात होता है कि कर्म के बिना जीवन–यापन असम्भव है। अतः वेदविहित कर्मों का अनुष्ठान करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक बताया गया है।

ईश्वर–प्राप्ति के उपाय

ईश्वर–प्राप्ति परमार्थ है। प्रत्येक पुरूष का यह स्वयंसिद्ध अधिकार है। ईश्वर–प्राप्ति के तीन उपाय हैं – ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग।

ज्ञानयोग[7]

ज्ञान ही साक्षात् ब्रह्म अथवा ईश्वर है। किन्तु पुरूष सत्व, रज और तम के प्रभाव में पड़कर उस ज्ञान को खो देता है। ईश्वर को जानना चाहिए। उसके ज्ञान में विधि है, आदेश है। उसको जानने से पुरूष कृतकृत्य और आप्तकाम हो जाता है। ज्ञान–प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम सत्व शुद्धि करनी चाहिए। सत्व गुण की अधिकता से ही बुद्धि इस ज्ञान की निष्ठा कर सकती है। अतः गीता में कहा गया है कि सत्व से ज्ञान उत्पन्न होता है। परमात्मा अपने–आप में सत्, चित और आनन्द, अर्थात् वास्तविक सत्य और परम आनन्दमय है। जो लोग ज्ञान की खोज करते हैं, उनके लिए वह शाश्वत् प्रकाश है, माध्याह्न से सूर्य की भाँति उज्जवल और देदीप्यमान, जिसमें अन्धकार का नाम भी नहीं है; जो पुण्य पाने के लिए संघर्ष कर रहे हैं, उनके लिए वह शाश्वत् पवित्रता है, स्थिर और समदर्शी; जो लोग भावुक प्रकृति के हैं, उनके लिए वह शाश्वत् प्रेम और पावनता का सौंदर्य हैं।

कर्मयोग

कर्मयोग से भी ईश्वर–लाभ होता है। ईश्वर स्वयं यन्त्रवत् सभी कर्म करता है। जो पुरूष ईश्वर का अनुसरण करके यन्त्रवत् अपने सभी कर्मों को या स्वधर्म को करता है और वह उनमें लिप्त नहीं होता, वह ईश्वर को प्राप्त करता है।

भक्ति–मार्ग

ईश्वर–लाभ का अन्तिम उपाय भक्ति है। भक्त वह है जो सब कुछ छोड़कर भगवान का ही नाम जप करता है, स्मरण करता है। वह निरन्तर भक्ति से ईश्वर की ही सेवा करता है। वह भगवान से निरतिशय प्रेम करता है। अतः भगवान भी उससे प्रेम करता है। वह भगवान को भक्ति से पहचानता है। भक्ति व्यक्तिक परमात्मा के साथ विश्वास और प्रेम का सम्बन्ध है। भक्ति का मार्ग ब्राह्मण, वैश्य, शूद और स्त्री सब के लिए खुला है। किन्तु भक्ति की साधना सरल नहीं है। भक्त को अनन्य मन से भगवान का ध्यान और स्मरण करना पड़ता है। कभी–कभी उसे जीवन में बहुत ही कष्ट उठाने पड़ते हैं।

भक्ति शब्द 'भज्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है – सेवा करना; और भक्ति शब्द का अर्थ है भगवान की सेवा। यह परमात्मा के प्रति प्रेमपूर्ण अनुराग है। नारद ने भक्ति की परिभाषा करते हुए इसे परमात्मा के प्रति उत्कट प्रेम बताया है। यह भगवान की करूणा के प्रति विश्वासपूर्ण आत्मसमर्पण है। मानवीय आत्मा परमात्मा की शक्ति, ज्ञान और अच्छाई के चिंतन द्वारा, भक्तिपूर्ण हृदय से उसके निरन्तर स्मरण द्वारा, दूसरे लोगों के साथ उसके गुणों के सम्बन्ध में चर्चा करने के द्वारा, अपने साथियों के साथ मिलकर उसके गुणों का गान करने के द्वारा और सब कार्यों को उसकी सेवा समझ कर करने के द्वारा भगवान के निकट पहुँच जाती है।

श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यामात्मनिवेदनम्।।

भक्त अपने सम्पूर्ण अस्तित्व को भगवान की ओर प्रेरित करता है। प्रेम धर्म का सार है। यह उपासक और उपास्य के मध्य द्वैत को अंगीकार करता है। गीता में भक्ति बौद्धिक प्रेम नहीं है, जो कि अपेक्षाकृत अधिक चिंतनात्मक और मननात्मक होता है। यह ज्ञान के आधार पर टिकी है, परन्तु स्वयं ज्ञान नहीं है। भक्त में एक अतिशय विनय की भावना होती है। वह अपने आदर्श भगवान की उपस्थिति में अपने आपको कुछ भी नहीं समझता। परमात्मा विनम्रता से, जो कि आत्मा का पूर्ण आत्मसमर्पण है, प्रेम करता है।

भक्ति ज्ञान की ओर ले जाती है। रामानुज की दृष्टि में यह स्मृति–सन्तान है। भक्ति भी ज्ञान का ही एक रूप है। जब भक्ति प्रबल होती है तब आत्मा में निवास करने वाला भगवान अपनी करूणा के कारण भक्त के ज्ञान को प्रकाश प्रदान करता है। भक्त अपने आप को भगवान के साथ घनिष्ठ रूप से संयुक्त अनुभव करता है। भगवान का अनुभव एक ऐसी सत्ता के रूप में होता है जिसमें सब प्रतिपक्ष लुप्त हो जाते हैं। वह अपने अन्दर भगवान को और भगवान

में अपने–आपको देखता है। भगवद्गीता में भक्ति अनुभवातीत के प्रति सम्पूर्ण आत्मसमर्पण है। यह है भगवान में विश्वास करना, उससे प्रेम करना, उसके प्रति निष्ठावान होना और उसमें लीन हो जाना।

3. गीता में तत्व–विचार

ब्रह्म

गीता का ब्रह्म निर्गुण है तथा गुणों का उपभोक्ता भी है। वह सत् है, असत् भी है और सद्सत् से परे भी है। गीता के ब्रह्म का विशुद्ध स्वरूप उसके पुरूषोत्तम तत्व में है।

ब्रह्म और माया

गीता के अनुसार त्रिगुणमयी माया भगवान की अभिन्न शक्ति है। अतः वह भगवान की ही तरह अचिन्त्य है। वह न तो सत् है न असत् ही। वेदान्त की भाँति गीता की माया शक्ति अविद्यास्वरूपा नहीं है; बल्कि वह सर्वव्यापी पुरूषोत्तम का ही अंश है। वह इस अनेकविध दृश्यमान जगत की अधिष्ठात्री है। इस लीलामय जगत् की स्वामिनी है। यह लीलामय जगत् प्रपंच नहीं है; बल्कि वह भी पुरूषोत्तम का ही अंश होने के कारण चिरन्तन और नितनवीन है किन्तु पुरूषोत्तम जीव, जगत और माया से व्यापक है। गीता में मायामय प्रभु के दो भाव बताये गये हैं : अपरभाव और परभाव। भगवान का अपरभाव वह है जिसके अनुसार वे योगमाया से युक्त होकर जगत् को अभिव्यक्त करते हैं। इस रूप में विश्वात्मा कहलाते हैं। उनका दूसरा परभाव अनन्त, अचिन्त्य और अपव्यय है।

ब्रह्म और जीव

गीता दर्शन की पुस्तक नहीं है। जीव, ब्रह्म का ही सनातन अंश है। मृत्यु के बाद भी वह उसी में समा जाता है। इस देह में ब्रह्म भी है और जीव भी। जीव प्रकृति बात गुणों का भोक्ता है और इसलिए सत् या असत् योनि में जन्म लेता है। ब्रह्म उसका उपदेष्टा, अनुमन्ता, भर्ता तथा पालक है और परम आत्मा के रूप में सभी देहों में विद्यमान रहता है।

ब्रह्म ही जगत् की उत्पत्ति और प्रलय का कारण है। इसके परतर कोई तत्व नहीं है। अनन्त ब्रह्मण्ड के रूप में प्रकाशित प्रकृति और पुरूष उसी ब्रह्म की अपरा और परा प्रकृतियाँ हैं। उनकी यह अपरा प्रकृति जड़ है और परा प्रकृति चेतन। इन दोनों जड़–चेतन के संयोग से जगत की उत्पत्ति हुई है। इस जगत की सभी जड़ और चेतन वस्तुएँ उसी ब्रह्म का रूप है। वही इस जगत का निमित्त और उपादान कारण है।

मोक्ष[8]

गीता में मोक्ष के लिए भक्ति, कर्म, उपासना और ज्ञान ये चार साधन बताये गये हैं। ये चार भगवान की शरणागति के साधन हैं।

क्योंकि श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है ''हे अर्जुन परम श्रद्धा से मन को लगाकर जो निरन्तर उपासना करते हैं, वे ही उत्तम साधक हैं। जो भक्त अपने किये हुए सभी कर्मों को मेरे प्रति अर्पण करके एकाग्र मन होकर मेरी उपासना करते हैं, उन अपने भक्तों का मैं इस मृत्युरूपी संसार से शीघ्र ही उद्धार कर देता हूँ।''

गीता के अनुसार ईश्वर का लाभ करना मोक्ष है। इसे ब्राह्मी स्थित कहा जाता है, क्योंकि पुरूष को ब्रह्म लाभ होता है। पुरूष इस स्थिति में अपने मूल अवस्था में रहता है। इसे कैवल्य भी कहते हैं। वह प्रकृति के गुण और विकार से अपने को मुक्त या स्वतन्त्र करता है। अतः इस स्थिति को मोक्ष या कैवल्य भी कहा जाता है।

संदर्भ

1. श्रीवास्तव एम.पी. एवं विरेन्द्र कुमार वर्मा – प्राचीन भारतीय संस्कृति कला एवं दर्शन, एशिया बुक कम्पनी 1972 पृ.315–320
2. वही – प्राचीन भारतीय संस्कृति कला एवं दर्शन पृ. 325–330
3. वही – प्राचीन भारतीय संस्कृति कला एवं दर्शन पृ. 333–340
4. अर्चना भट्ट (अप्रकाशित शोध प्रबन्ध) योग के दार्शनिक आधार एवं इसके शैक्षिक निहितार्थ (2009) पृ. 61–65
5. वही – योग के दार्शनिक आधार एवं इसके शैक्षिक निहितार्थ (2009) पृ. 68 –73)दत्ता आर.सी.– भारतीय दर्शनों का विंहावलोकन पृ. 42–48
6. सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय – भारतीय दर्शन पृ. 15–25
7. सरस्वती स्वामी चिदानंद – योगसन मार्गदर्शिका, वडोदरा, गुजरात 1997